



Title	श्री मणि मधुकर के उपन्यास : डा॰ लक्ष्मीधर मालवीय
Author(s)	Malaviya, Dhar Lakshmi
Citation	大阪外国語大学学報. 1984, 64, p. 389-396
Version Type	VoR
URL	https://hdl.handle.net/11094/80989
rights	
Note	

The University of Osaka Institutional Knowledge Archive : OUKA

<https://ir.library.osaka-u.ac.jp/>

The University of Osaka

श्री मणि मधुकर के उपन्यास—डा० लक्ष्मीधर मालवीय

एक नया संसार !

भूख तथा मृत्यु के बीच अदम्य जिजीविषा वाला मनुष्य !

भुरभुरी रेत जैसी बर्फ पर लाल-पीले रोगनों से रंगी हुई छोटे बच्चों की स्लेजें फूलों की तरह खिल आयी थीं दिसंबर में ! उन पर बीमार, मरणासन्न और मृत बच्चे खींचे जा रहे थे। एक छोटा शरीर, किसी बच्चे का ही रहा होगा, मामूली कागज में लपेट कर मामूली डोर से जैसे-तैसे बांध कर कोई बर्फ पर यों ही रख गया था। “रोटी-रोटी” की कमजोर फुसफुसाहट। वह हर रोज़ उन्हीं सड़कों से होकर जाता था। तीन घंटे लग जाते थे उसे ठिकाने तक पहुंचने में। बीच में एक जगह रुककर वह थोड़ी देर को दम लेता था, एक जमी हुई ट्रामगाड़ी के भीतर। पचहत्तर तक गिनती गिनकर वह आगे चल देने के लिये खड़ा हो जाता था। उस ट्राम में वह अकेला कभी नहीं होता था। वहां अन्य यात्री भी थे लेकिन हमेशा वही तीन। लाशें। शायद वे लोग भी कभी उसकी तरह पैरों को आराम देने के इरादे से वहां आकर बैठे होंगे लेकिन आगे जाने के लिये खड़े न हो पाये होंगे !

रेत जैसी बर्फ में !

“कमरे में हैं हम तीन। लेकिन वे दो सांसें नहीं लेते। वे मर चुके हैं। मैं सब समझती हूं। फिर भी रोटी के तीन टुकड़े क्यों करती हूं मैं ?”

लेनिनग्राद में ! जहां के पत्थरों को एक कवि ने ललकारा था—“ओ पत्थरो ! दृढ़ होओ—हमारी तरह !”

अज्जैदान की तरह—“मिनखा मरण सुंवार” मृत्यु को तुम सम्मान दो, हमेशा। ओ भाई, वह इसलिए सम्मान की हकदार है कि उसकी निरंतर उपस्थिति तुम्हें जीने और जूझने का हठीला साहस देती है। मृत्यु है, अवसाद है, अकेलापन है चारों ओर; इसलिए तो यह जरूरत महसूस होती है कि जीवन को, उसके सच्चे राग को दूढ़ कर पाने की चेष्टा की जाये ! ...

दूर-दूर तक सिर्फ रेत का विस्तार, अंगारे गिराती धूप, नौ साल लंबा काला अकाल, भूख, मौत ! लोग लाशों को जलाते नहीं, यों ही रेत के टीलों पर फेंक आते हैं—भुरभुरी बर्फ जैसी रेत के टीले !

“सफेद मेमने” मैंने संसार के सबसे अधिक जनसंख्या वाले महानगर तोक्यो में पहली बार पड़ा और उसके बाद कई हफ्तों तक इस उपन्यास की रेत-आँधी-भूख की दुनिया हर जगह मेरा पीछा करती रही थी।

रेत के अनन्त विस्तार के बीच अंधेरे से मिले कोहरे का जीवन—कीथ ज्यारेट के संगीत जैसा। सन्नाटे में भुरभुर खाली होती हुई रेतघड़ी की तरह रिक्त हो रहे अपने अस्तित्व को वापस पकड़ने की कोशिश में वे तमाम मानुष जो रेत के टीलों में बंधे हैं !

राजस्थान के पश्चिमी छोर पर स्थित बाड़मेर जिले का एक छोटा-सा गांव—ढाणी—नेगिया। ढाणी का अधेड़ पोस्टमास्टर रामातार, उम्र में उससे आधी उसकी निःसंतान पत्नी बन्ना। गांव का जनावर रसाव डाक्टर

भानमल । पिछले छह वर्षों से ऊंट पर आस-पास की ढाणियों में डाक बांटने वाला डाकिया जस्सू, डाकघर का चपरासी रखे ।

रखे के गांव में नौ साल लगातार अकाल पड़ा । बाप उसका बूंद-बूंद पानी के लिये तड़प-तड़प कर मर गया । मां उसे आठ साल का वहीं छोड़कर कहीं चली गयी । किसी तरह रखे जीवित बच गया । फिर वह इधर चला आया और यहीं का हो गया, अपनी तमाम उम्र उसने डाकघर की एक अधअंधेरी कोठरी को दे दी ।

रेत के टीलों के बीच आकर कैद हो गया था पोस्टमास्टर रामौतार । लेकिन जिस रेगिस्तान के बीच बंदी थी उसकी पत्नी बन्ना वह पहले रेगिस्तान से कहीं अधिक विस्तृत था । मेरी जानकारी में कुछ उदाहरण हैं कि कैसे एक संभ्रान्त नारी साधारण स्त्री और अंत में निपट नंगी मादा हो जाती है । बन्ना वैसा ही एक चरित्र है । उसमें विशेष है तो ऐन्द्रिक मांसलता । “उसके शरीर की बनावट में एक भ्रूम थी जो जब-तब अंग-अंग से फूटने लगती थी । बन्ना की पीठ पर एक चिकनी मांसल पट्टी । कूल्हों की गोलाइयां गरारे की शिकनों को बेधती हुई मंद-मंद कांप रही थीं । एक पल के लिये बन्ना ने अपने उघड़े वक्ष का उभार देखा । वह दूधिया था और अपने दर्प में टिका था । सिर्फ सांस उसे छेड़ रही थी, छू रही थी, कम्पन दे रही थी । बन्ना ने दुशाला ओढ़ कर कंधों पर खींच लिया ।”

उसके रेगिस्तान का दूसरा आयाम था अतृप्त मातृत्व का और अतृप्त मादा का । शहर में पैदा हुई थी वह, हाई स्कूल पास थी, लेकिन उसके मामा ने अपने हमउम्र रामौतार से उसका व्याह कर दिया, “जिसने बन्ना को मरुस्थल के अनन्त सन्नाटे में लाकर निराश्रित-सा बना दिया । धूल के खंडहरनुमा टीले, दिनरात की आंधी उसमें इकट्ठी होती गई ।” पत्नी से अधिक वह रामौतार की बंधक है तभी तो “वह रामौतार की जिन्दगी से जितना प्यार करती है उतना ही उसकी मौत से ।”

एक रोज बन्ना मैले कपड़े धो रही थी । पेटीकोट पिंडलियों तक उठा था और ब्लाउज वदन से चिपक गया था । पीछे से सन्दो उसे एकटक देखने लगा । सन्दो सीमा के दोनों ओर के इलाकों में डाके डालता था और पुलिस उसके पीछे लगी हुई थी । सन्दो बोला—“मेरे मन में तुम्हारे लिये चाहना पैदा हुई है । तुम मेरे साथ सोना चाहोगी ?” बन्ना को लगा, पहली बार उसे पुरुष ने छुआ है, उसके कौमार्य की जड़ता को अपने अंततः बल से भंग किया है । किसी को खबर तक नहीं हुई और बन्ना ने सन्दो को अपना सब कुछ दे दिया ।

सन्दो रखे चपरासी की सन्तान था लेकिन सन्दो को इसकी जानकारी न थी । जाट और राजपूत अपनी ओछी शूरता एक-दूसरे की जाति की औरतों का अपहरण-बलात्कार करने में ही दिखाते थे— सन्दो दशहरे के मेले में सुरजा जाटणी को उठा लाया । पुलिस की निगाहों से बचने के लिये उसने टीलों के बीच में एक भोंपड़ी बना ली थी । सुरजा को उसने उसी भोंपड़ी में डाल दिया । सुरजा को वह एक मादा से अधिक न समझता था— स्वयं सुरजा भी खुद को मादा से अधिक नहीं मानती थी । सन्दो उसके पास अपने दोस्त ले आता था, रोज, सुरजा पर चढ़ाई कराने के लिये ।

“मैं जाट की जाई हूं, दस मरद एक भेंट भेल सकती हूं ।”— सुरजा की प्रतिक्रिया थी । उसके लिए जस्सू डाकिये जैसा सीधा-सरल-सहृदय पुरुष खिलौना-भर था, “शहर का बबुआ ।” लेकिन वही सुरजा, जो सन्दो द्वारा जस्सू को भोंपड़े के अंदर भेजे जाने पर, प्रतिहिंसा भरे क्रोध से अपना लंहगा ऊपर चढ़ा कर बोली थी—“चढ़ जाओ । जल्दी करो नासपीटे ! मेरी टांगें दुख रही हैं । कित्ती देर ऐसे पड़ी रहूं ।” ज़रा देर बाद जस्सू से एक भोली किशोरी की तरह बातें कर रही थी । यह कहना कठिन है कि उसके साथ बरती गई मानवीय हिंसा ने अथवा प्रकृति की कठोर मार ने सुरजा को स्त्री से मादा बना दिया था । जो भी हो, जस्सू से कोमल व्यवहार मिलते ही उसमें आश्चर्यजनक परिवर्तन

हुआ —नर के शिशु बनते ही वह मादा मां में बदल गयी—“सुरजा सहसा संकोच में पड़ गयी, क्या सुनाऊं ? वो लो तुम्हें कौन सी बात अच्छी लगती है।” उसका यह परवर्ती रूप जैसे मानवोचित है, उसका पूर्व रूप भी मुझे स्वाभाविक लगता है। सन्दो के लौटने की आहट मिलते ही वह जस्सू से लिपट गयी, आत्मरक्षा की प्रार्थना करते हुए, “वह मुझे मार डालेगा। उसे अंदर मत आने दो।” उसे लगा, इन बांहों में ताकत है, हौसला है और प्यार है। वे उसे बचा सकती हैं। उसे असहाय अवस्था में तजेंगी नहीं।”

सन्दो के लिये जैसे हिंदुस्तान-पाकिस्तान की सीमारेखा का अस्तित्व न था, सुरजा और बन्ना भी उसकी दृष्टि में महज मादाएं थीं। सुरजा को उसने थानेदार के साथ कर दिया —“स्साली औरत मेरे किस काम की। थानेदार भी चार-छह रोज़ सुरजा को रखेगा, फिर किसी दलाल के हाथ बेच-बाच देगा।”

बन्ना गर्भवती हुई। रामौतार गरजा—“पेट में किसका मल ले रखा है ?” “तुम्हारा तो नहीं है।”—बन्ना ने तीखेपन से कहा और मुंह फेर लिया। गर्भ बन्ना का था।

रामौतार ने नेगिया से अपना तवादला करा लिया पर बन्ना ने वहीं रहने का निश्चय किया—सन्दो जहां चाहेगा, उसे वहीं रहना है। अपनी संतान के लिये नहीं, सन्दो के गर्भस्थ अंश के लिये। “निश्चिन्त रहो। मैं तुम्हारे पास पहुंच जाऊंगी।” बन्ना ने मुस्कराकर कहा—“तुम्हारे अंश पर कोई आघात नहीं आएगा।”

यह एक अदम्य आदिम वृत्ति है जो मनुष्य से लेकर कीड़े मकोड़े तक में विद्यमान रहती है—प्रजनन द्वारा अपने जैविक रूप का विस्तार !

बन्ना ही नहीं रक्खे की भी यही प्रतिक्रिया हुई थी—“जिस व्यक्ति ने न कभी ब्याह किया, न गृहस्थी जमायी, न घर का कोई दन्द-फन्द किया, जिंदगी भर अकेला और अपने-अपने में सिमटा-सिमटा रहा उस रक्खे को लगा कि उसका अंश खत्म नहीं हुआ। वह एक अनजाने बहाव में शामिल है।”

महस्थल ही का परिवेश है “पत्तों की बिरादरी” का। भूख तथा दुर्भिक्ष के कारण दूर-दूर तक अपनी-अपनी ढाणियों से टूट-टूट कर स्त्री-पुरुष मसान जैसे सरकारी कैम्पों में जमा हो गये थे। दिन भर की कमर तोड़ मेहनत के बदले में अधपेट खाने को अन्न मिलता था।

भूख की मार से पाकिस्तान की ओर स्थित फतियावाली ढाणी से टूट कर चल निकलने वाले तीन थे—चौबीस साल का शुबो, उसके बाऊ और मां। मां के मन में केवल एक इच्छा थी कि मरने के पहले बस, एक बार ताज़ा सिंकी हुई रोटी का स्वाद चख ले। पर वह सीमा तक पहुंचने के पहले ही चल बसी। शुबो की पीठ पर लदे-लदे, सीमा के इस पार, बाऊ ने न जाने कब दम तोड़ दिया तो शुबो ने एक टीले पर उन्हें यों ही छोड़ दिया और आगे की राह ली।

लेकिन हजारों हजार भटकते हुए शरणार्थी जिन तत्वों से बने थे, शुबो उन तत्वों से भिन्न रसायनों की निर्मित था। उसके बाऊ उसके हाथों में अज्जैदान के समर सोरठों की संजीवनी देकर गये थे—“पेट के अलावा और भी बहुत-कुछ है हमारे पास ! धड़, बाजू, दिमाग, पांव और इन सबको जोड़ने वाली ताकत !”

शुबो को किसी तरह छतना कैप में भरती मिली लेकिन जल्द ही एक दिन कैप के ठेकेदार इग्यारसीलाल को कैप की एक औरत से दुर्व्यवहार करते देख कर वह ठेकेदार से भिड़ गया।

दुर्भिक्षग्रस्त इलाके के दूसरे तमाम कैपों की तरह यह कैप भी राजनीतिक, आर्थिक, नैतिक भ्रष्टाचार की छाया में खड़ा हुआ था। शुबो ने देखा कि कैप को सरकार की ओर से मिलने वाले अन्न की चोरी-चोरी बिक्री का

मुनियोजित षड्यंत्र है, जिसके केन्द्र में है पुसपा बाई नामक एक विलासिनी अघेड़ औरत। लाभ में ऊपर से लेकर नीचे तक और सीमा के दोनों ओर के लोगों का हिस्सा है। एक रात बिका हुआ अन्न ऊंटों पर लाद कर ले जाया जा रहा था, बीच में बाजरे की दो बोरियां ऊंट पर से गिर गयीं। शुबो ने उन बोरियों को सबकी नज़रों से बचाकर एक जगह बालू में दबा दिया।

शुबो अपनी आंखों के सामने देखता था—कैप की जवान अघेड़ औरतें ठेकेदार के कैप में रात को जाती हैं, जबरन और खुशी-खुशी भी, क्योंकि ठेकेदार के पास रात को जाने वाली औरत की कद्र कैप में बढ़ जाती थी। राजनीति तथा भ्रष्टाचार के गठबन्धन से कैप का अनाज पाकिस्तान ले जाकर बेचा जाता था। पुसपाबाई और इग्यारसीलाल अन्न चोरी से बेचते थे तो हरलो डाकू ग्यारह आदमियों के अपने गिरोह के साथ बरजोरी से लूटता था—जिस कैप में भी रसद की आमद हो, रसद बन्दूक की नोक पर लूट ली जाती थी।

“मृत्यु और मृत्यु से भी ज्यादा उसका नंगा भय। इस भय ने शुबो को एकदम निहत्था बना दिया था। वह कुछ नहीं कर सकता था, पल-पल मरने और नष्ट होते जाने के सिवा।” पर मृत्यु-भय ने शुबो को निहत्था भले ही कर दिया हो, वह उसके हृदय की दृढ़ता को तोड़ नहीं पाया था। उसने निश्चय किया कि वह बहादुरी से डटेगा और जम कर मुकाबिला करेगा।

उसने कैप में चली आ रही धोखाधड़ी का खुलकर विरोध किया और वह भी कैप के ठेकेदार इग्यारसीलाल से—“कैप में भरती होंगे कुल तीन-बीसी लोग, लेकिन कागदों में चिपका रखे हैं दो सौ ज्यादा। मुझे मालूम नहीं है क्या? अनाज तो बचेगा ही, बस उसका सौदा करके रकम ऐंठ ली जाती है। यह फरजी-धरजी करेवाई अच्छी नहीं है, ध्यान कर लो।”

इसी बीच कैप में दो नयी भरतियां और हुईं, दो जनानियों की। एक थी करीब चालीस साल की, अचली, दूसरी उसकी अठारह-उन्नीस की छोकरी जुगनी। शुबो को बाद में पता चला कि उसकी तरह जुगनी को भी अज्जै-दान से गहरा लगाव है। सम्भवतः इस समान सूत्र के कारण वे दोनों एक-दूसरे के निकट होते गये।

“जुगनी मंत्रमुग्ध-सी उसके निकट खिसक आयी। शुबो उसकी महक से मत्त हो उठा। दोनों ही के होंठ बड़ी आतुरता से एक-दूसरे को पाने के लिए बढ़े और लीन हो गये। वह एक सहज प्रवाह था, उसे रोकना नहीं जा सकता था और रोकने की सोचकर कदाचित् वे ग्लानि से भर उठते और अपने-आपको माफ़ न कर पाते।”

जुगनी पर शुरू ही से इग्यारसीलाल की निगाह थी। एक रात उसने जुगनी को अपने तंबू में बुला भेजा तो जुगनी को मासिकधर्म होने का बहाना बताकर स्वयं ठेकेदार के तंबू में चली गयी।

कैप में थानेदार की पार्टी आने से खलबली मच गयी। वहां शुबो के अलावा बहुतेरे ऐसे थे जो खाने की तलाश करते हुए पाकिस्तान से इधर आ गये थे। शुबो कैप से भागकर सरकण्डों में छिप गया। वहां पहले से घात लगाये बैठे हरलो के आदमियों ने शुबो को धर दबोचा।

शुबो के न रह जाने से पुसपाबाई और इग्यारसीलाल का प्रतिरोध कर सकने का किसी में साहस ही न होता। कैप वालों में पहले जो थोड़ी-सी आत्मसम्मान की भावना शुबो के कारण उत्पन्न हुई थी, वह रेत के ढेर की भांति बिखर गयी। अब तक कैप के भीतर ढोरों की तरह हांके जाने वाले वे तमाम लोग, इस बार कैप के बाहर खदेड़े जाने लगे।

कैपवासियों ने यह मान लिया था कि शुबो पुलिस के हाथों मारा गया। लेकिन महीनों बाद शुबो जिंदा लौटा - हरलो के आदमियों ने उसे दारुण यंत्रणा दी थी, उसके सारे शरीर को गर्म लोहे से दाग दिया था फिर भी वह जीवित भाग निकला।

शुबो को अपने बीच वापस पाकर कैप के टूटे-बिखरे, बेसहारा मनुष्यों में नयी स्फूर्ति का संचार हो आया। शुबो को वापस मिली उसकी प्रेयसी जुगनी — “जुगनी, तुम्हें याद करते हुए मैं रोज मौत से लड़ा हूँ।”

कैप में अनाज थोड़ा-सा ही बच रहा था। शुबो उन लोगों को अपने साथ ले गया उस टीले पर जहाँ उसने बाजरे के दो बोरे गाड़ दिये थे—“जमीन में दबे रह कर भी इस बाजरे ने मुझे बहोत-कुछ दिया है। सबसे पहले मन में जो भरोसा जगा था, वह इस बाजरे के बल पर ही।”

पुसपाबाई-इग्यारसीलाल ने उन मजलूमों का पुनः संगठित होते देखा तो कैप तोड़कर वहाँ से भाग निकलने का निश्चय किया।

वर्षा का पहला दौगरा पड़ा। “धारोंधार वर्षा ने चौतरफ़ा कल-कल जल के जाजम-गलीचे बिछा दिये। वही मैदान। वही रास्ते। वही रेत। वही पेड़। और पत्ते, नये होने के लिए अपनी बिरादरी जोड़ रहे थे।”

“कई साल जुगनी और शुबो ने एक नयी ढाणी बनाने में लगा दिदे। बिलकुल सींव पर, सरहद पर। जुगनी ने ईंट-गारे से एक कच्चा घर बनाया। सोने-बैठने का छपरा हिन्दुस्तान में और खाने-पकाने की रसोई पाकिस्तान में।”

71 में लड़ाई शुरू हुई और पहले ही दौर में एक गुस्सैल सिपाही ने शुबो को गोली मार दी।

“पत्तों की बिरादरी” की सबसे बड़ी सफलता है भारत-विभाजन के खोखलेपन को पाठकों के सामने उजागर करना—वह भी लेखकीय जुमलेबाजी से नहीं, देश के बंटवारे को भूख और मौत से भूठा दिखलाने वाले स्त्री-पुरुषों के प्रामाणिक चित्रण द्वारा। लेकिन यह उपन्यास अनेक प्रतिक्रियाओं को प्रश्नवाचक रूप में छोड़ जाता है।

मैं यह नहीं मानता कि आर्थिक, सामाजिक विध्वंसता पर चोट करने वाले उपन्यास में राजनीतिक भ्रष्टाचार को समाविष्ट करना अपने आप में आपत्तिजनक है। फिर, प्रशासकीय-राजनीतिक पड्यंत्र को दैहिक-आर्थिक-सामाजिक शोषण के केन्द्र में रखने के बाद भी “पत्तों की बिरादरी” गहरा चिरस्थायी प्रभाव क्यों नहीं छोड़ पाता? वह चाहे थानेदार का पुसपाबाई से यह कहना हो कि “अभी तुम मुझे हिस्सा दो, जब तुम मिनिस्टर बन जाओगी तब हम तुम्हें बाकायदा हिस्सा देंगे।” (पृ० 112) अथवा पुसपाबाई-इग्यारसी लाल का डाके के शिकार होने का छल-छंद हो (पृ० 133)—ये तथा इस प्रकार के अन्य प्रसंग इतने आम किस्म के हैं कि इनसे उपन्यास में नाटकीयता भले ही आ जाए, पाठक को कायल कराने में असमर्थ रह जाते हैं।

बल्कि मैं “पत्तों की बिरादरी” के ऐसे दूसरे प्रारूप की कल्पना करता हूँ, जिसमें राजनीतिक पक्ष को शामिल नहीं किया गया है—यह अवश्य सम्भव है कि ऐसी शर्त होने पर मणि मधुकर ने “पत्तों की बिरादरी” लिखा ही न होता लेकिन “पत्तों की बिरादरी” तब भी लिखा जा सकता था, इसमें मुझे संदेह नहीं।

शुबो का चरित्र गढ़ा हुआ कहीं से भी नहीं लगता लेकिन उसके कुछ पहलू अप्रामाणिक भालूम देते हैं। वैसे ही इस उपन्यास के कुछ प्रसंग भी। उठो और दुनिया को बदल दो की तर्ज में यह कथन 18-19 वर्ष की छोकरी जुगनी का—“असल चीज़ यह है कि हमें ऐसी दुनिया को मंजूर ही नहीं करना चाहिये। सख्त होकर और उसे

परे झटककर, अपने आसपास को समझना चाहिये और जहां जरूरी हो, चोट करने से नहीं चूकना चाहिये।” (पृ० 95)

यह लेखक का विश्वास है। यह मेरा-आपका, बहुतांश का भी विश्वास हो सकता है। लेखक द्वारा अपने मत को पात्रों के मुंह से उद्धृत कराने की चलन हिन्दी में काफ़ी पुरानी है—इतनी पुरानी कि मैं अब ऐसे उद्धरणों को पढ़कर बिदक जाता हूं।

हिन्दी में राजनीतिक व्यंग्य की सुदीर्घ और समृद्ध परंपरा है—“भारत दुर्दशा”, और “शिवशंभु के चिट्ठे” से लेकर “महाभोज” तक, हिन्दी रचनाओं की एक लम्बी नामावली मेरे ध्यान में आती है—साथ ही यह प्रश्न भी कि हिन्दी में राजनीतिक व्यंग्य के क्रमशः निष्प्रभ होते जाने का कारण क्या है?

विस्तार से बचने के लिए मैं दो ही कारणों की संक्षेप में चर्चा करना चाहूंगा।

“पत्तों की विरादरी” की प्रभावकारिता कम होने का, मेरे विचार से पहला कारण है समाज के शोषक-शोषितवर्गीय विभाजन को उपन्यास के पात्रों द्वारा परिभाषित करने का लेखक का सचेष्ट प्रयास। अपना मतव्य मैं निम्नलिखित उदाहरणों से स्पष्ट कर सकता हूं अतः मणि मधुकर से इतर लेखकों को उद्धृत कर रहा हूं—जानबूझ कर लेखक का नाम दिये बगैर—

“उनके गाल हराम का माल खा-खाकर थूल-थूल हो चुके हैं। तोंद भी काफ़ी निकल आयी है। आंखें बड़ी-बड़ी और नाक लम्बी है। रंग गोरा और माथा चौड़ा है। आदमी माने नी०। नी० माने एक टूटा हुआ आदमी! और नीच जातियों के पांव थरथराने लगते हैं। दिल बैठ जाता है। क्योंकि ऊंची जातियों के लोग पद और पैसे के नशे में धुत हो चुके हैं। उन्हें नहीं मालूम कि नीच जातियों का भी दिल होता है। और उन दिलों में ईमानदारी और गरीबी जुड़वां बच्चे की तरह पलते हैं।”—उपन्यास के एक ही पृष्ठ से।

“एक बार ऐसे ही जरूरतमंद के रात डेढ़ बजे आने पर डा० गु० ने बेडरूम की खिड़की से कह दिया था ‘पूरे पचास रुपये लगेंगे इस बकत।’ तब से चार-छह मरीज रात डेढ़ बजे के बाद भी आ जाया करते। इनमें अक्सर वे नौसिखिया मां-बाप होते जो अपने नवजात शिशु की हर एक हरकत पर व्यग्र व चिन्तित होते या वे जिनके पास फेंकने को पैसा होता। उनका पर्स बार-बार नोटों से भर जाता।”—दूसरे उपन्यास के एक ही पृष्ठ से।

दूसरा कारण पहले का ही दूसरा पहलू है—हिन्दी का उपन्यासकार अपने सारे पात्रों को, उनकी नैतिकता-अनैतिकता, ईमानदारी-वैईमानी समेत, धोने-फचीटने के बाद उन्हें या तो एकदम पवित्र-गोरा-चिट्ठा अथवा फिर नितान्त अपवित्र-काला-कलूटा करके अपने पाठकों के सामने परोसता है कि वे साधारण मनुष्यों की बजाय राम और रावण, कृष्ण और कंस के गत्ता संस्करण लगने लगते हैं। “पत्तों की विरादरी” में भी ऐसे युग्म अनेक हैं—शुबो बनाम वे तमाम, शुबो की प्रेमिका जुगनी, (जिसकी योनि अक्षत रखने के लिए खुद उसकी मां इग्यारसीलाल के तंबू में चली गयी थी) और बदचलन सुवटी, जो शुरू से ही इग्यारसीलाल के तंबू में जाकर दरी की तरह बिछ जाया करती थी। अन्त में सुवटी चिल्लायी—“मेरा क्या होगा पुसपावाई?” “तुम यहीं रहो।” रावता ने उसकी तरफ़ थूका—“अपने करमों का फल भोगो।”

उस देश में जहां साक्षरता का प्रतिशत पचास फीसदी भी नहीं है, उन साक्षरों में भी महज इने-गिने साहित्यिक उपन्यासों-कहानियों के पाठक हैं—उन्हें यदि लेखक कूढ़मगज समझता है तो यह या तो लेखक की धृष्टता है अथवा सरासर बचपना। नैतिक मूल्य साभूहिक नहीं हो सकते, उन्हें दूसरे पर आरोपित नहीं किया जा सकता

फिर बेचारे उपन्यास के पात्र पर लेखक की निजी नैतिकता क्यों लादी जाती है !

मैं यदि लेखक होता तो मैंने उपन्यास के माध्यम से एक मानुख को, जैसा भी वह है, उसकी दुनिया के साथ पाठकों के सामने रखा होता—इस आशा और विश्वास से कि मेरा पाठक उस मनुष्य के सुख-पीड़ा-देवत्व-हिंस्र-क्रूरता वगैरह से उसे पहचान कर काले अथवा सफ़ेद खाने में स्वयं रख सकेगा।

“आओ, सब लोग मेरे पीछे आओ—यहां से खोदो—बाजरे में बड़ी ताकत होती है,” जैसे प्रसंगों की अपेक्षा मेरे मन में अंकित रह जाने वाले दृश्य हैं—जहां एक मादा की चीख सुनायी देती है—“भीच डालो, मार डालो मुझे !”—मेरे लिये यह भी मनुष्य है !

जैसे कि पुसपाबाई। गोदारी के बेटे बखिया की बलि उसने तालाब में दी थी। बच्चे के बिछोह से पागल हो गयी गोदारी को पुसपाबाई शराब पिला कर नचाती, कड़ी धूप में दौड़ाती, बालू के लड्डू बनाकर खिलाती और यों अपना इन्टरटेनमेंट करके खूब हंसती थी—मेरे लिये यह एक अचंभा नहीं दृश्य है एक अप्रकाशित उपन्यास का—“तुम्हें यहां आकर इतना रोना था तो तुम्हें यहां आना ही नहीं चाहिए था।” क्योंकि सरकण्डे की ओट में शिकार करने वाली ये नारी-महिला-स्त्री नहीं निखालिस मादा अतः मनुष्य है। पुसपाबाई का बैसा व्यवहार मुझे क्रूरता भरा नहीं लगता। बेलछी, नरायनपुर, जमशेदपुर और अलीगढ़। देवी, हसीना, मथुरा और मुन्ना। यह क्रूरता वहां रहने वालों के दैनिक अस्तित्व का अंग ही नहीं अंगी भी है।

हाल ही में मैंने मणि मधुकर का नवीनतम उपन्यास “मेरी औरतें” पढ़ा लेकिन वे औरतें मुझे मणि मधुकर की औरतें नहीं लगती—बन्ना, सुरजा, कातम्मा, दाखा, और जिज्जी जैसी। मणि मधुकर की औरतें रट्ट पुरुषों से भी अधिक रट्ट हैं, जंगली ऊँचे पेड़ों—जैसे अपने आदिमपने में ! इन औरतों की दैहिक वासना, उनकी ऐंद्रिक मांसलता के कारण, सामान्य लंपट कामुकता नहीं लगती।

मुझे आश्चर्य न होगा यदि मणि मधुकर के कतिपय पात्रों, और वर्णनों-प्रसंगों को अन्य पाठक अनैतिक और अश्लील मानें। “सफ़ेद मेमेने” में जानवरों के डाक्टर भानमल का पशु-मैथुन, जस्सो का सोती हुई जन्तरी से बलात्कार, “त्वमेव माता” शीर्षक कहानी की वक्तियां, जो स्वयं कहती हैं—“मैं उनके साथ सो चुकी हूं कई बार, मेरी यही रोजी है।” अथवा “चन्द्रग्रहण” नामक कहानी की जिज्जी, जो अपने धरम भाई की देह का भोग करती है और अपने अर्धेड तथा बीमार रहने वाले पति को इलाज के नाम पर विषाक्त गोलियां खिला रही है !

हमारी पवित्रता-नैतिकता की परिभाषा है भी बड़ी अनोखी ! बम्बई की फ़ाकलैंड रोड की वेश्या वस्ती अब से दसियों बरस पहले से आबाद है, लेकिन वहां की वेश्याओं-हिजड़ों के जीवन पर आधारित सचित्र पुस्तक—जिसके अंश अनेक जापानी पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके हैं—भारत में प्रतिबन्धित है। अर्थात् फ़ाकलैंड रोड के अस्तित्व पर कारगर रोक नहीं, उसके चित्रण-वर्णन पर पाबन्दी। यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि मणि मधुकर के बन्ना और दाखा जैसे पात्र जो जीवन जीते हैं, उस जीवन को नापने का पैमाना उनका अपना है। अतः मुझे उनका कोई भी कर्म न अनैतिक लगता है न अश्लील।

यह मृत्यु के बीच का जीवन है—बहुत कुछ जापानी सामुराई योद्धाओं के जीने जैसा। सामुराई अपने को पहले से मृत मानकर तब शत्रु को चाक करने के लिये म्यान से तलवार खींचता था। जीने के बीच लगातार मरते रहना दोनों ही के लिये असम्भव है। इसी को जीने के लिये मृत्यु की कामना कहा जा सकता है—जैसे कि सुलेमान ने कहा था—“मुझे कातम्मा के बचने की कोई उम्मीद नहीं है बल्कि मैं तो चाहता हूं कि वह न बचे” इसने मेरा जीना दूभर कर दिया है। पर मैं खूब जीना चाहता हूं।”

मृत्यु के विषय में भिन्न दृष्टि, दुर्दान्त आदिम भूख के साथ अदम्य जिजीविषा मणि मधुकर के स्त्री-पुरुष पात्रों को मध्यमवर्गीय परिभाषाओं के बाहर ले जाती है।

मणि मधुकर की भाषागत सक्षमता का मैं हृदय से प्रशंसक रहा हूँ। कुछ उदाहरण दे रहा हूँ जो मैंने अपनी नोटबुक में लिख रखे हैं—“महीने तो मुसाफिर होते हैं।”—“शाम का झुटपुटा। आसमान से भरती हुई रेत। और पश्चिम में बल खाते हुए किरणों के गोहरे और साँप। एक साँप लम्बा होने लगा तो चार-पाँच हाथ से भी ज्यादा बढ़ा हो गया फिर बीच में से टूट गया और स्याह धुएँ में खो गया।” “सूरज एक ओंधे घड़े की भांति धंस रहा है।”—“बदनपच्ची।”

अब यह शिकायत कोई नहीं कर सकता कि मेरे शिष्य ने मुझे शिक्षा नहीं दी।

ओसाका गाइकोकुगो दाइगाकु—ओसाका विदेशी भाषा विश्वविद्यालय—में मैं पिछले वर्ष मणि मधुकर के नाटक वक्षा में पढ़ा रहा था। हाँ, अब मैं गर्व के साथ कह सकता हूँ कि मैंने मणि मधुकर को बलास में पढ़ाया है !

NOVELS OF MANI MADHUKAR

Malaviya, Lakshmi Dhar

Mani Madhukar is an acknowledged contemporary poet and novelist. Born but in 1942, more than a score of his books have been put forth thus far. The present article however, confines itself to the study of his two major novels, viz, 'WHITE LAMBS' and 'BREED OF FALLEN LEAVES'. The author was born and raised in the acrid sand-dunes of Rajasthan in Western India. Life there has ever been an unending struggle with recurring cycle of famine and death. This has on the one hand given the people there a tenacity to survive on the basemost level of subsistence, and also to rise to the sublime of human dreams. It is a tenacious spirit to live on, even in conditions which their contemporary fellowcountrymen will deem sub-human. The characters in these novels are unique in their non-confirmity with the accepted moral and social mores. Their portraiture by the author is no less uninhibited. The authenticity both moves and shocks the modesty of the readers, which is the importance of this author. If there is a bias to be found, it is in favour of those down-trodden characters, almost sub-human in existence.